एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-IV

मज़दूरों के बच्चे, मज़दूर बच्चे और बाज़ार

फ़राह फ़ारूक़ी

बच्चों के सामाजिक-आर्थिक हालात किस कदर उनकी शिक्षा को प्रभावित करते हैं? कैसे कठोर यथार्थ उनके सपनों को नहीं पनपने देता? इन हालात में बचपन के मायने कैस बदलते हैं? डायरी की इस कड़ी में बच्चों के जीवन के इन्हीं पहलुओं में झांकने की एक कोशिश की गई है।

मौजूदा क़िस्त में कोशिश की गई है कि अपने स्कूल के बच्चों के आर्थिक-सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ की एक बड़ी तस्वीर आपके सामने पेश की जाए। जिन हालात में बच्चे रहते हैं और काम भी करते हैं, उसका एक तफ़सीली जायज़ा यहां पेश है। किस तरह बच्चों की ज़िन्दगी बाज़ार और कारोबार से मुतास्सिर होती है और उनके तालीम हासिल करने के आड़े आती है, इसकी समझ बनाने के लिए ज़रूरी है कि इलाक़े को, कारोबार और कारख़ानों को, आर्थिक उतार-चढ़ाव और बच्चों के घर-परिवार को ज़रा क़रीब से देखा जाए। ज़रूरी है कि बच्चों की दिनचर्या, आर्थिक-सामाजिक दबाव और शिक्षा से जुड़े उनके फ़ैसलों के आपसी रिश्ते की जांच की जाए। साथ ही यह भी समझने की कोशिश है कि ये बच्चे और उनके परिवार के सदस्य बच्चों के कारख़ानों से जुड़े हुनर को किस तरह देखते हैं। पारिवारिक रिश्ते भी काम और मज़दूरी के रिश्तों से प्रभावित होते हैं और बच्चों की ज़िन्दगी और तालीम पर असर अन्दाज़ होते है। बच्चों के संदर्भ को समझे बग़ैर शिक्षा से जुड़े स्कूल के, शिक्षा विभाग और राज्य के फ़ैसलों और नीतियों का विश्लेषण मुश्किल है। इसलिए इस मज़मून में बच्चों की जिंदगी और इलाक़े का एक घना वर्णन है। ज़रूरी नहीं है कि वर्णन विश्लेषण से अलग हो बल्कि मेरी समझ से इस डायरी की मुख़्तलिफ़ कहानियों में विश्लेषण गुंथा हुआ है या विश्लेषनात्मक नज़र छुपी हुई है।

हमारा स्कूल बाड़ा हिन्दू राव में स्थित है। स्कूल से एक-ढेड़ किलोमीटर की दूरी पर चारों दिशाओं की जो जानी-मानी जगहें हैं, उनमें से एक तरफ़ झण्डेवालान, दूसरी तरफ़ आज़ाद मण्डी, तीसरी तरफ़ करोल बाग़ और चौथी तरफ़ पहाड़गंज है। यह स्कूल पुरानी दिल्ली या शांहजहांनाबाद के मग़रिबी किनारे पर स्थित है। स्कूल के आसपास के गली-कूचों से हमारे यहां के तक़रीबन बयानवें (92) फ़ीसदी बच्चे आते हैं। कुछ बच्चे हैं जो थोड़ी दूर से लेकिन पुरानी दिल्ली के इलाक़ों से, जैसे लाल कुआं, बल्लीमारान वग़ैरा से आते हैं। बहुत कम बच्चे ऐसे हैं जो ओखला या मशरिक़ी दिल्ली के सीलमपुर और नजफ़गढ़ जैसे इलाक़ों से

आते हैं। वैसे तो स्कूल के आसपास के गली-कूचों में अकेले भी कई बार जाना हुआ है, लेकिन हमारे एक साथी टीचर जिन्होंने इसी स्कूल से पढ़ा है और इस इलाक़े के ही पले-बढ़े हैं, उनके साथ इलाक़ा देखने का लुत्फ़ और दर्द दोनों ही अनोखे थे। लुत्फ़ लोगों से मिलने और इलाक़े को समझने का और दर्द सामाजिक ठहराव का जिसकी झलक यहां दिखी। अंदेशा-सा हुआ कि स्कूल के बहुत से बच्चे भी इसकी चपेट में आ जाएंगे और क्या वे अपने वालदैन की निस्बतन अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति बदल पाएंगे? इन दौरों से इलाक़े की सामाजी तारीख़ और स्कूल को समझने में बहुत मदद मिली।

स्कूल, इलाक़ा और बच्चे

स्कूल की पिछली दीवार और उससे लगी एक दीवार से लगा इलाक़ा नई बस्ती कहलाता है। यह इलाक़ा औरों की बनिस्बत नया ज़रूर है, लेकिन यहां की आबादी भी आज़ादी के वक़्त की है। स्कूल के सामने का इलाक़ा अहाता किदारा कहलाता है और एक दीवार से मिला इलाक़ा कटरा आत्माराम है। इन गली-कूचों से लगी-मिली और गलियां हैं, जैसे गली ईश्वरीप्रसाद, पक्की गली, मोहल्ला शेख़्यान, गली दरज़ियान, चिमनी मिल, अनाज मण्डी, बेरी वाला बाग़, कसाबपुरा वग़ैरा। कुछ गलियां तो इतनी पतली हैं कि अगर कोई अपनी बांहें फैलाकर खड़ा होगा तो दोनों तरफ बने घरों या कारख़ानों की दीवारों को छू पाएगा। कई तो इससे भी पतली हैं! इन छोटी-बड़ी और ज़्यादातर तंग गलियों में नीचे और नीचे की मंज़िलों में कारख़ाने हैं और ऊपर की मंज़िलों में घर या फिर एक जगह जो घर और कारख़ाना दोनों है। इनमें से बहुत से कारख़ाने भारी मशीनों वाले हैं। इन भारी मशीनों वाले कारख़ानों में लोहे के फ़रमे या लोहे का बड़ा छोटा और सामान बनता है। कई में तार खींचे जाते हैं, औज़ार, लोहे की कुर्सियां, चूड़ियों के हल्के अल्मूनियम से बने ख़ोल, शीशे काटने-बनाने की मशीनें बनाई जाती हैं। ये भारी मशीनें एक 6×6 फुट के कमरे से लेकर 20×20 फुट के बड़े हाल में लगी मिलती हैं। कई जगह एक कमरे से जुड़े अन्दर ही अन्दर कई कमरे हैं और जगह बढ़ाने के लिए दुछत्तियां भी डाल ली गई हैं। कहीं कच्चा माल मशीनों में डाला जाता है, कहीं उसे काटा-छांटा जाता है और किसी और कमरे या दुछत्ती पर उसे पैक करने का काम होता है। इन कारख़ानों में एक साथ काम करने वाले 8 से 10 तक लोग नज़र आते हैं। यहां जो फ़रमे बनते हैं, उन्हीं का इस्तेमाल करके प्लास्टिक के मामूली बर्तन और खिलौने बनाने वाले कारख़ाने भी यहां देखने को मिलते हैं।

फ़राह फ़ारूक़ी
दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रहीं हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्मालिया के शिक्षा विभाग में एसोशियट प्रोफेसर हैं और दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी से संबद्ध हैं।

कई कारख़ानों के अन्दर क़दम रखने पर सर्दी के मौसम के बावजूद बहुत गर्मी महसूस हुई। बल्कि कई जगह पंखे यहां तक कि कूलर भी चल रहे थे। कुछ कामों का तो पता है कि उनका सेहत पर कितना ख़तरनाक असर हो सकता है। ऐसे कामों में शामिल है निक्किल पॉलिश और तेज़ाब का काम। शीशे बनाने, काटने-छांटने के काम का भी सेहत पर बुरा असर होता है। शीशे का बारीक पाउडर सांस के साथ फेफड़ों में जाकर काफ़ी नुक़सान पहुंचाता है। ये अंदेशे तो मेरे दिमाग़ में थे ही लेकिन कुछ सेहत और जिस्म पर तकलीफ़देह ज़ाहिरी असर भी सामने थे। एक साहब की कलाई के आगे हाथ ही नहीं था। कभी मशीन की नज़र हो गया था, उसके बावजूद काम की फुर्ती पर कोई असर नहीं था। तेज़ भागते ज़माने से रफ़्तार मिलाना ही दो रोटी की शर्त जो है! दो और लोगों की उंगलियां कटी हुई थीं। एक जनाब के हाथों पर जलने के निशान बाक़ी थे। ऐसा नहीं है कि लोग, यहां तक कि बच्चे भी, इन कामों के असर से बेख़बर हैं।

इन भारी मशीनों वाले कारख़ानों के अलावा, चमड़े और कपड़े के बैग, डायरी और डायरी के कवर, मसनूई ज़ेवर, चूड़ियां, टोपियां, बैल्ट, जीन्स, गत्ते के छोटे बड़े डिब्बे बनाने वाले कारख़ाने मौजूद हैं। इनमें से कुछ सिर्फ़ कारख़ाने हैं और घर से अलग चलते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जहां घर के लोग मिलकर काम करते हैं और

घर ही में काम होता है। एक कारख़ाना जहां डायरी बनाने का काम होता है, वहां जाना हुआ। एक पतले अंधेरे ज़ीने पर संभलकर चढ़ना पड़ा। पहली और दूसरी मंज़िल के पतले लम्बे कमरों में काम होता है। नौ बजे कारीगर सो ही रहे थे क्योंकि रात दो-तीन बजे तक काम चला था। कारीगर 12 साल से लेकर 22 साल तक के पंद्रह लड़के थे जिनमें से आठ एक क़तार में सो रहे थे। 8×12 फुट के कमरे में एक तरफ़ मशीनें रखी थीं, एक तरफ़ माल बिखरा पड़ा था और एक कोने में डायरियों के पुलिन्दे रखे थे। कुछ लड़के हमें देखकर अपने नंगे जिस्म और मैले कपड़ों को छुपाने की कोशिश में शर्मिंदा से थे। कमरे के सामने ही पख़ाने का दरवाज़ा खुला पड़ा था, जहां की बदबू पूरी फिज़ा में कुछ इस तरह फैली थी कि तंगी, ज़ुल्म और तकलीफ़ों की अपनी एक कहानी बयान कर रही हो। कारख़ाने के मालिक जो अपने-आपमें आर्थिक-राजनीतिक ढांचों मोहरा हैं, वह भी 25-28 वर्ष के नौजवान ही थे। पता यह चला कि ठेकेदार जो ख़ुद भी बिहार, यू.पी. से हैं वे इन तंगी के इलाक़ों से सस्ते में मज़दूर और मज़दूरी ख़रीद पाते हैं।

कई और छोटे कारख़ाने, घर में ही चलते हैं जहां घर के बड़े और बच्चे मिलकर काम करते हैं। अहाता किदारा में अंदर एक कमरे के घर में बैग का कारख़ाना था। 10 x 10 फुट के कमरे में एक तरफ़ गैस का चूल्हा और बर्तन बिखरे पड़े थे। एक दीवार से लगी कपड़ा सीने की दो मशीनें रखी थीं। एक दीवार से कपड़े के थैलों का अम्बार लगा था, वहीं कच्चा माल भी रखा था। एक तरफ़ दीवार में बनी आलमारी में घरवालों के पहनने के कपड़े, बच्चों के स्कूल बैग और किताबें बेतरतीब भरी पड़ी थीं जिसमें इन मज़दूरों की बेतरतीब-सी ज़िन्दगी का एक अक्स-सा था। यह समझना मुश्किल था कि घर के सात फ़र्द रात को इस घर में कैसे सो पाते होंगे। यह घरनुमा कारख़ाने और कारख़ानेनुमा घर तंगी, बेतरतीबी, जद्दोजहद की अपनी कहानी बयान करते लगते हैं।

यहीं पास में क़साबपुरा और ईदगाह का इलाक़ा है, जहां अभी कुछ साल पहले तक क़साईख़ाने मौजूद थे। दिल्ली भर की बड़े-छोटे जानवरों जैसे बकरी-भैंसे के गोश्त की सप्लाई यहीं से होती थी। इलाक़े के बहुत से लोग इसी पुश्तैनी काम से जुड़े थे। अभी चंद साल पहले दिल्ली सरकार के आदेश पर गोश्त काटने-बनाने के यह कारख़ाने इस रिहाइश की जगह से दूर ग़ाज़ीपुर मण्डी (जो कि यहां से बीस-पच्चीस किलोमीटर की दूरी पर है) में मुनतख़िल कर दिए गए हैं। इससे बहुत से लोगों (3-4 हज़ार) के काम और आमदनी का नुक़सान हुआ है। बहुत से लोग अब भी छुप-छुपाकर घर में या किसी और जगह पर गोश्त का काम ही करते हैं। कुछ और लोगों ने मिलकर वैन से ग़ाज़ीपुर मण्डी जाना शुरू कर दिया है।

इलाक़े में काम और इससे जुड़े लोगों का संघटन और बनावट वक़्त और सामाजिक-राजनीतिक हालात के साथ बदलती रही है और आगे भी बदलेगी। 1991-92 तक इस इलाक़े में 35 फ़ीसदी हिन्दू आबादी थी जो अब घटकर 5-8 फ़ीसदी रह गई है। 1992 में बाबरी मस्जिद दंगों और बाद में गुजरात (2002) हत्याकाण्ड के बाद यहां की हिन्दू आबादी कम हुई है। इसी वजह से स्कूल में भी हिन्दू बच्चों की संख्या पर असर पड़ा है। इसके अलावा सन् 2006 में रिहाइश की जगह से कारख़ाने (ख़ासतौर से सेहत के लिए हानिकारक) बन्द करने के सरकार के फ़ैसले से भी इलाक़े के आर्थिक हालात असरअन्दाज़ हुए हैं। बाज़ार के उतार-चढ़ाव का असर लोगों और बच्चों की ज़िन्दगी पर तो होता ही है। फ़िलहाल यहां पर काफ़ी ख़ानदान ऐसे हैं जो तक़रीबन सौ साल से यहीं रहते चले आ रहे हैं। बाक़ी बहुत से पिछले 5-15 साल के अरसे में उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, राजस्थान के गांव और क़स्बों से रोज़ी-रोटी की ख़ातिर और बच्चों की पढ़ाई की ख़ातिर यहां आकर बसे हैं।

इन तमाम कामों और कारखानों के अलावा यहां के लोगों की ज़रूरत पूरी करने वाले और बहुत से काम

और कामगार देखने को मिलते हैं। छोटे बड़े होटल और ढाबे, मोबाइल फ़ोन, कपड़ों और परचून वग़ैरा की दुकानें हर थोड़ी दूर पर मौजूद हैं। इलाक़े में सफ़ाई-सुथराई की शदीद कमी नज़र आती है।

पिछले 20-30 सालों में 2-3 किलोमीटर के इस इलाक़े में कई सरकारी और सरकारी-मदद से चलने वाले स्कूल वुजूद में आए हैं। हमारा स्कूल इस इलाक़े का सबसे पुराना स्कूल है। मुक़ामी लोगों के ख़्वाब, उम्मीदें और शिक्वे-शिकायतें सब इस स्कूल से जुड़ी हैं। हमारे साथी टीचर साहब हर कुछ क़दम पर रुकते थे, कारख़ाने में काम करने वाले कारीगरों और दुकानदारों से मेरा तआरुफ़ करवाते थे, ''यह भाई सलीम हैं, हमारे स्कूल में आठवीं जमात तक पढ़े हैं, इनके छोटे भाई मेरे साथ पढ़ते थे। अब इनके दो बच्चे प्राइमरी में हैं और दो लड़कियां सुबह की शिफ़्ट में पढ़ती हैं''। इसी तरह मेरी मुलाक़ात उन्होंने मज़दूरों - बच्चे, जवान, बूढ़े - छोटे-बड़े ठेकेदारों, मालिकों, दुकानदारों से करवाई। बाज़ार में पसीना बेचने और ख़रीदने वालों का रिश्ता स्कूल से बरसों और पुश्तों का था। पता नहीं स्कूल ने इन्हें पसीने और मेहनत की असली क़ीमत का अन्दाज़ा भी करवाया है या नहीं। अगर यह अंदाज़ा इन्हें है कि इनके पसीने की क़ीमत का बस एक ठीकरा ही इन्हें मिल पाता है बाक़ी शहर की चौंधयाने वाली रोशनी की नज़र हो जाता है, तब ये अपनी मजबूरी का सामना कैसे करते होंगे? पता नहीं स्कूल ने उनकी माली, सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था समझने, बदलने या फिर स्थापित करने में कितना योगदान दिया है। क्या उन्हें यह एहसास हुआ कि ढांचों ने चाहे वे आर्थिक हों या फिर राजनीतिक और सामाजिक, ज़िन्दगी में उनके मौक़े किस तरह महदूद कर दिए हैं। वे लोग जिनके बाप-दादा भी तंगी और तकलीफ़ों का सामना करते हुए मज़दूरी करते थे, आज वे भी वही काम कर रहे हैं और इनके बच्चों का मुस्तक़बिल भी इसी तरफ़ इशारा कर रहा है, क्या शिक्षा और स्कूल ने उन्हें लोकतंत्र के मायने पूछने और खोजने की हिम्मत और आवाज़ दी है?

यहां यह कहना ज़रूरी है कि चंद ही सही, लेकिन इलाक़े को टीचर, महिला वकील, डॉक्टर, इंजीनियर देने वाला यह स्कूल ही है।

मज़दूर बच्चे

इन्हीं कारख़ानों से रोज़ी या तो बच्चों के वालदैन कमाते हैं या फिर बच्चे खुद साथ में ज़िम्मेदारी उठाते हैं। ऐसे बच्चे भी हैं जिन पर घर का सारा आर्थिक बोझ आ गया है। जैसे दसवीं कक्षा का एजाज़। उसके वालिद का हाथ कई साल पहले मशीन में आ गया था, जिसकी वजह से वह काम नहीं कर पाते हैं। अब एजाज़ और उसका बड़ा भाई मिलकर घर का ख़र्चा चलाते हैं। एजाज़ प्रिंटिंग प्रेस में काम करता है। स्कूल से एक बजे घर पहुंचता है और खाना खाकर दो बजे काम पर पहुंच जाता है। काम सीखने में भी चार साल लग गए। दो साल पहले 500 रुपये से शुरुआत हुई थी। अब जाकर दिन में आठ घंटे काम करने के महीने में 4000 रुपये मिलते हैं। एजाज़ को ज़्यादातर रात दो बजे तक ओवरटाइम भी करना होता है ताकि घर का ख़र्चा चल सके। कई बार सुबह सात बजे स्कूल पहुंचना मुश्किल हो जाता है। कोशिश होती है कि स्कूल में ही स्कूल का काम पूरा कर ले, घर आने के बाद फ़ुरसत कहां! कक्षा बारहवीं के नजीब और उसके भाई पर भी घर का सारा आर्थिक भार है। जहां ज़्यादातर मज़दूर बच्चे आसपास के कारख़ानों में काम करते हैं वहीं नजीब का काम कुछ अलग है। वह पार्टी या इवेंट आयोजित करने का काम करता है। उसे यह अफ़सोस जरूर है कि हाथ में हुनर नहीं है, लेकिन इस काम के पैसे ठीक-ठाक मिल जाते हैं। एक दिन के, बल्कि रात कहना चाहिए क्योंकि पार्टियां शाम सात-आठ बजे से रात एक-दो बजे तक चलती हैं, उसे चार सौ रुपये से लेकर आठ सौ रुपये तक मिल जाते हैं।

सातवीं कक्षा के शेखुर्रहमान अपने पिता के साथ चूड़ियां बनाने, पैक करने का काम करता है। छठी के बदरे आलम के पिता बैग का काम करते हैं। वह भी छपाई में मदद करता है। ग्यारहवीं (विज्ञान) का नईम और

उसके पिता एक बैग बनाने की फ़ैक्ट्री में काम करते हैं। जब माल जाने का तक़ाजा होता है, तब नईम को स्कूल से बीमारी का बहाना करके जल्दी जाना पड़ता है। मॉज़ सातवीं कक्षा में पढ़ता है और उसके अब्बू गोश्त का काम करते हैं। जानवर ज़िबह करने, साफ़ करने का काम तो पिता ही करते हैं, लेकिन अब वह बोटियां बनाने में मदद करने लगा है।

काफ़ी बच्चे ऐसे हैं जिन्होंने अपने पिता के हुनर से अलग कोई और हुनर सीखा है। दसवीं कक्षा के बिलाल के घर में गत्ते के डिब्बे बनाने का काम होता है। लेकिन बिलाल बहुत अच्छा बिजली का काम जानता है जो उसने कई साल लगाकर उस्ताद से सीखा है। अब स्कूल के बाद काम करके वह चार हज़ार रुपये महीने कमा पाता है। सातवीं कक्षा का रिज़वान उस्ताद से दर्जी-लेडीज़ टेलर-का काम सीख रहा है। यह सीखते हुए अभी चंद महीने ही हुए हैं और उस्ताद ने उसे सिर्फ़ तुरपाई करना ही सिखाया है। उसे हफ़्ते के सौ-ढेड़-सौ रुपये मिल जाते हैं। अथर के वालिद जूते की दुकान में काम करते हैं। लेकिन अथर सदर में बिंदी बनाने-बेचने का काम करता है। उसे महीने के 1500 रुपये मिल पाते हैं। ग्यारहवीं (विज्ञान) की एक बच्ची मुक़ामी डॉक्टर के साथ कम्पाउन्डर का काम सीख रही है।

स्कूल में बहुत से बच्चे ऐसे हैं जो पूछने पर साफ़ इंकार करते हैं कि वे काम करते हैं या कमाई में योगदान देते हैं। यह वे किसी शर्मिन्दगी के एहसास की वजह से नहीं करते, बल्कि ख़ुद उन्हें और घरवालों को भी यह एहसास नहीं है कि वे किस तरह काम की कड़ी का एक हिस्सा हैं। एक स्कूल के बच्चे को मोबाइल की दुकान पर, दूसरे को गोश्त की दुकान पर बैठा देखकर पूछा, ''क्या तुम भी काम में हाथ बंटाते हो''? जवाब मिला, ''नहीं, वह तो अब्बा खाने और सोने गए हैं, इसलिए मैं कुछ घंटे दुकान देख रहा हूं। काम तो अब्बा ही करते हैं''। एक बच्चा टायर ठेले पर लदवाता हुआ मिला। उसके हाथ में हिसाब की कॉपी थी। पूछने पर कहा, ''नहीं काम नहीं करता, बस टायर लोड करवा रहा हूं''। दिलनवाज़ दूसरी जमात में पढ़ता है। इसके घर में कपड़े के बैग बनते हैं। मां-बाप दोनों ही मिलकर काम करते हैं। मुझे बताया कि बच्चों से पढ़ाई के अलावा कोई काम नहीं लेते। इतने में हमारे दिलनवाज़ बड़ा-सा झोला लटकाए हुए दाख़िल हुए और मां को बताया कि माल पहुंचा दिया, वसूल किए पैसे भी मां को थमाए। स्कूल में बहुत-सी बच्चियां ऐसी हैं जो कम उम्र से घर के कामों में मदद करने के अलावा सितारे लगाने, क्लिप बनाने, पैक करने के काम में मदद करती हैं। इस तरह चाहे इन मज़दूर बच्चों के या मज़दूरों के बच्चों के काम को पहचान और सम्मान मिले या न मिले ये कारोबार की छोटी-बड़ी कड़ी तो हैं ही। मैंने डायरी की शुरुआत में लिखा था कि हमारे स्कूल में सिर्फ़ 20-25 फ़ीसदी ऐसे बच्चे हैं जो काम करते हैं। लेकिन आंकड़े बताते हैं, ख़ासतौर से उन तीन कक्षाओं के जिनके मैंने ख़ुद इकट्ठे किए हैं (VII, VIII, X) कि ऐसे बच्चों की तादाद छठी कक्षा से बारहवीं तक कम से कम 65-70 फ़ीसदी है। इससे पता चलता है कि बच्चों को जानने के लिए और सही स्कूली फ़ैसले लेने के लिए आंकड़े इकट्ठे करना और शोध ज़रूरी है। सही-ग़लत अन्दाज़े लगाने का कोई फ़ायदा नहीं है।

स्कूल में काफ़ी बच्चे ऐसे भी हैं जिनके पिता या बड़े भाई 5 से 10 साल पहले बिहार, यू.पी., राजस्थान जैसे राज्यों से दिल्ली आए हैं। इस ख़्वाहिश की ख़ातिर कि बच्चे पढ़ जाएं, उन्होंने बच्चों को दिल्ली बुला लिया। प्राइमरी स्कूल में और ख़ासतौर से बड़ी कक्षाओं में बहुत-से बच्चे ऐसे हैं जो बड़े भाई, पिता या फिर और किसी पुरुष रिश्तेदार के साथ रहते हैं। घर की महिलाएं आबाई वतन में ही रहती हैं। मां से मिलना साल भर में या फिर कई साल में एक बार हो पाता है। चूंकि घर की महिलाएं साथ नहीं होतीं, इसलिए अपने और बाप-भाई-चच्चा, जिनके साथ भी वे रहते हैं उनके बहुत-से कामों की ज़िम्मेदारी बच्चों पर आ जाती है। इन कामों में शामिल हैं वे काम जो रिवायती तौर पर औरतों के मान लिए गए हैं जैसे खाना पकाना, कपड़े धोना, बर्तन साफ़ करना वग़ैरा। पांचवीं कक्षा का इरशाद और दूसरी कक्षा का दिलशाद अपने 24-25 साल के भाई के साथ कारख़ाने में ही रहते हैं। दोनों भाई कई साल पहले सीतामढ़ी, बिहार से पढ़ाई की ख़ातिर

दिल्ली आए हैं। इरशाद सुबह उठकर नाश्ता बनाता है, फिर दोपहर के खाने का इन्तेज़ाम करता है। खाना पकाने, बर्तन धोने में दिलशाद भी मदद करता है। स्कूल से वापस आकर (प्राइमरी स्कूल दोपहर की शिफ़्ट में चलता है) कुछ देर बैल्ट बनाने का काम करता है। उसके बाद रात का खाना पकाना, खिलाना। सोने से पहले स्कूल का कुछ काम भी कर ही लेता है।

बड़े भाई की आंखों में छोटे भाइयों की पढ़ाई को लेकर ख़्वाब नज़र आते हैं। तंगी के बावजूद वे दिलशाद को ट्यूशन के लिए भेजते हैं। उनका कहना है कि ''इरशाद, दिलशाद किसी तरह पढ़ लें ताकि गांव में बाप-दादा का नाम रौशन करें''। उनका यह भी मानना है कि ''क्योंकि यह हाथ का काम भी जानते हैं, इनमें कभी तकब्बुर नहीं होगा, यह ऐसे काम को बुरा नहीं कहेंगे और हाथ से काम करने वालों की इज्ज़त करेंगे''। भाइयों के लिए अख़बार भी ख़रीद लाते हैं ताकि स्कूल की किताबों के अलावा दुनिया का भी पता रहे।

आठवीं क्लास के मुर्तज़ा के बड़े भाई मोअज़्ज़िन हैं और मस्जिद में ही रहते हैं। मुर्तज़ा भी भाई के साथ मस्जिद में रहता है। औरों के मुक़ाबले में उसे यह सुकून है कि खाना मुहल्ले से आ जाता है। ज़्यादातर ऐसे बच्चे जिनके सिर्फ़ पुरुष रिश्तेदार ही दिल्ली में हैं, वे कारख़ाने में या फिर काम की जगह पर ही रहते हैं। कारख़ाने में कई बार रात भर काम होता है और मज़दूर दिन-चढ़े तक सोते हैं। इस सूरत में सुबह उठकर वक़्त पर स्कूल पहुंचना खुद इनकी ज़िम्मेदारी होती है। ऐसे काफ़ी बच्चे बग़ैर नाश्ता किए भूखे पेट ही स्कूल आते हैं और आधी छुट्टी के इन्तेज़ार में रहते हैं ताकि कुछ खा पी सकें। कैन्टीन के नसीम भाई के ब्रेड पकौड़े से बोर हो चुके बच्चे दीवार कूदकर कचौड़ी आलू खाने बाहर भी जाते हैं। अब हदें लांघने का मज़ा भी कुछ और ही होता है!

इन बच्चों के रिश्तेदार क्योंकि शहर की तेज़ रफ़्तार के साथ क़दम मिलाने की कोशिश में होते हैं इसलिए इनकी बात सुनने, समझने, दुख-दर्द पर मरहम लगाने का वक़्त भी इनके पास कम ही होता है। चाहे अपने वतन की बोली बोलने पर बच्चों का स्कूल में मज़ाक़ उड़े या फिर खेलकूद के दौरान चोट, दोनों पर मरहम लगाने या फिर इनकी बात और शिकायतें सुनने वालों की, इनकी ज़िन्दगी में शदीद कमी रहती है।

जहां नौशाद की आंखों में भाइयों की पढ़ाई को लेकर ख़्वाब नज़र आते है, वहीं इन बच्चों की आंखों में बड़े भाई के लिए अदब, एहतराम के साथ-साथ एहसान साफ़ झलक जाता है। बाज़ार का उतार-चढ़ाव ही बताएगा कि ये बच्चे कहां तक पढ़ पाएंगे। इरशाद से जब पूछा कि वह बड़े होकर क्या बनना, काम करना चाहता है, तब वह चुप रहा। बहुत पूछने पर धीरे से कहा ''दीदी मैं पांचवीं में हूं और चौदह साल मेरी उम्र हो गई है, पता नहीं कितना पढ़ पाऊंगा और भाई कितना पढ़ा पाएंगे''। ख़्वाब देखने और उसकी ताबीर की योजना बनाने का हक़ मज़दूरों के बच्चों को और मज़दूर बच्चों को नहीं है!

हमारे स्कूल में वालदैन-टीचर कमेटी की मीटिंग में वालदैन को बुलाने का इसरार रहता है। अब वे बच्चे क्या करें जिनके वालदैन यहां नहीं रहते और भाई-चच्चा के पास स्कूल आने की फ़ुरसत ही नहीं है। कई बच्चों ने इसका इलाज भी अच्छा निकाला। राह चलती बुरक़े वाली ख़ातून को पचास रुपये देकर स्कूल में लाकर खड़ा कर दिया। अम्मी हाज़िर हैं। भई, अब उस्ताद तो उस्ताद ही ठहरे। पता चल ही गया और पिटाई भी हुई।

बच्चों से जुड़े काम और मज़दूरी के विभिन्न रूपों को ज़रा बारीकी से देखना-समझना ज़रूरी है। यह तब ही मुमकिन हो पाएगा जब हम उनकी सामाजिक सच्चाई से रू-ब-रू होंगे। जहां तक जोख़िम वाले कामों का ताल्लुक़ है, मुझे लगता है कि स्कूल में चन्द ही बच्चे ऐसे हैं जो शीशे या निक्कल पॉलिश के काम से जुड़े हैं। जब मेरी मुलाक़ात एक ऐसे बच्चे से हुई जो शीशे का काम करता है तो मैंने उसे इसके ख़तरों के बारे

में बताया। लेकिन यह ज़रूरी नहीं है कि यह समझना उसे इस काम से बचा पाएगा क्योंकि यह फ़ैसला तो वह अपने हालात और हाथ के हुनर के हिसाब से लेगा। इनके अलावा एजाज़ जैसे काफ़ी बच्चे हैं जिन पर अपने परिवार की आर्थिक ज़िम्मेदारी कुछ ज़्यादा ही है। इस वजह से यह बच्चे लगातार काफ़ी घंटे काम करते हैं और कई बार तो देर रात तक काम में मशगूल रहते हैं। कौन नहीं जानता कि कम उम्र से लगातार इतने घंटे काम करना इनकी सेहत और शिक्षा दोनों के लिए हानिकारक है। ऐसे कामों से बच्चों को दूर रखने के लिए राज्य का हस्तक्षेप ज़रूरी है। लेकिन यह हस्तक्षेप जब ही मायने रखेगा जब इन बच्चों के आर्थिक सामाजिक परिप्रेक्ष्य को देखते हुए लिया जाएगा और उनकी ज़िम्मेदारी में हिस्सेदारी ली जाएगी।

इन बच्चों के अलावा ऐसे बच्चे भी हैं जो हुनर सीख रहे हैं और पैसे भी कमा रहे हैं। दिन का कुछ वक़्त तो इस काम में जाता है, लेकिन यह इनको और इनके परिवार को हिम्मत देता है कि अगर तालीम के ज़रिए नहीं तो अपने हाथ के हुनर के ज़रिए यह अपनी रोज़ी-रोटी तो कमा ही पाएंगे। हमारे स्कूल में जो हाल संसाधनों और शैक्षिक-स्तर का है, उसे देखते हुए मैं चाहते हुए भी, इन्हें बहुत हौसला नहीं दिला पाऊंगी कि यह सिर्फ़ पढ़ाई करें ताकि इनका मुस्तक़बिल बेहतर हो। हमारे स्कूल का नतीज़ा या बच्चों के नम्बर जिस तरह के आ पाते हैं तो चंद ही बच्चे ऐसे होते हैं जो सामान्य कॉलेज में पढ़ाई कर पाते हैं। काफ़ी बच्चे कारस्पॉनडेंस या डाक-शिक्षा के ज़रिए ही आगे पढ़ पाते हैं। यह पढ़ाई इन्हें काम की दुनिया में कॉल सेन्टर तक ही ले जा पाती है। बच्चे हुनर से भी जाएं और बड़ी मल्टीनेशनल कंपनियों के ''गुलाम'' हो जॉएं। क्या ऐसी कंपनियों में इनका मुस्तक़बिल और ज़्यादा अनिश्चित होगा? मुख़्तलिफ़ तरह के हुनर की मांग भी वक़्त के साथ बदलती ज़रूर है लेकिन क्या तब एक तरह के शारीरिक और मानसिक कौशल दूसरी तरह के हुनर में बदल पाएंगे? हाथ में हुनर होने पर क्या ये बच्चे संगठित होकर अपने हक़ के लिए संघर्ष करने के क़ाबिल हो पाएंगे? अगर हमारा स्कूल और इसके जैसे और स्कूल ऐसे बच्चों को सही मायनों में सहारा देने के काबिल होते हैं ताकि ये तालीम के ज़रिए अपनी ज़िन्दगी को और बेहतर बना सकें तब तो यह कहना कि ये सिर्फ़ पढ़ाई करें और फ़िलहाल कोई दूसरा काम न सीखें, मुनासिब होगा। इस सहारे में शामिल होगा स्कूल में नियमित रूप से बेहतर शिक्षा का इन्तेज़ाम, साथ ही कुछ विषयों या मज़मूनों जैसे भाषा और विज्ञान में रोज़मर्रा की कक्षाओं के अलावा मदद। अफ़सोस, यह ज़रूरी है क्योंकि ''दौड़'' में मध्यवर्गीय परिवारों के वे बच्चे शामिल हैं जिनके मां-बाप उन्हें लाखों रुपये ख़र्च करके कोचिंग सेन्टर भेजते हैं। साथ ही इन मज़दूर बच्चों के परिवारों को आर्थिक मदद भी दरकार होगी ताकि ये बच्चे, आज़ादी से सिर्फ़ तालीम के ''काम'' में जुट पाएं।

इन बच्चों के अलावा स्कूल में ऐसे बच्चे भी हैं जो अपने वालदैन के साथ या फिर किसी और रिश्तेदार के साथ रहते हुए थोड़ा-बहुत काम करके कुछ हुनर भी सीख जाते हैं। अगर हुनर नहीं भी सीखते तो अपने परिवार की किसी न किसी तरह मदद तो करते ही हैं जैसे खाना पकाकर या घर-कारख़ाने का और काम करके। ऐसे बच्चों के काम को किस तरह देखा जाना चाहिए? इस सवाल का जवाब दो चीज़ों में छुपा है। एक, हम बचपन को कैसे देख रहे हैं और दूसरा ''काम'' किसे कह रहे हैं। यह कहा जा सकता है कि ये बच्चे अपने वालदैन की शागिर्दगी में हुनर ही नहीं सीखते, बल्कि उनका सामाजीकरण भी हुनर, मेहनत और काम में योगदान से जुड़ा है। हम जानते हैं कि बचपन को देखने-समझने का नज़रिया सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव के इतिहास के साथ बदलता है। आज बचपन सिर्फ़ मोहब्बत पाने और ज़िम्मेदारी से आज़ादी का नाम बनकर रह गया है। यह भी हक़ीकत है कि इस एक लम्हे में समाज के अलग-अलग समूह और तबक़े तारीख़ के अलग-अलग वक़्त एक साथ जी रहे हैं। दिलशाद जैसे बहुत से बच्चे जो अपने वालदैन के साथ घर की कुछ ज़िम्मेदारी निभा रहे हैं वह इस ''काम'' के ज़रिए ज़िन्दगी के बहुत अहम तजुरबों से दो-चार हो रहे हैं। ''बच्चों'' और ''बड़ों'' के बीच का यह मस्नूई और थोपा हुआ फ़र्क़ बच्चे को सामाजिक, आर्थिक तजुरबों

और दुनिया को देखने के नज़रियों से महरूम रखता है। शायद यह सवाल शिक्षा तंत्र के सामने रखने की ज़रूरत है कि क्या इनका हुनर तालीम के ज़रिए इनकी स्वाधीनता, मुक्ति और उद्धार का माध्यम बन पाएगा? किसी और लेख में बच्चों के काम का विश्लेषण शिक्षा का अधिकार कानून और बाल मज़दूर कानून के हिसाब से करूंगी।

कारोबारी ज़िन्दगी

उस्ताद के साथ काम सीखने के अपने खट्टे-मीठे तजुरबे होते हैं। उस्ताद का रवैया अक्सर हमदर्दी का नज़र आता है। स्कूल के टीचर के बरख़िलाफ़, उन्हें शागिर्द के घर के हालात और परेशानियों का पता रहता है। बच्चे की रोज़मर्रा की ज़रूरत जैसे खाने-पीने का ख़्याल, बीमारी-आज़ारी में मदद, देर-सवेर होने पर माफ़ी-तलाफ़ी का रिश्ता भी होता है। उसी के साथ, अपना काम कम पैसे में निकालना, दिहाड़ी कम देना, पैसे रोक लेना भी खूब देखने को मिलता है। आश्रय और कृपा का दिखावा शोषण का माध्यम बनने के साथ-साथ मदद का ज़रिया भी बनता है। इस तरह श्रेणीबद्ध रिश्ते ढके-छुपे से रहते हैं और इन्हें समझना और मुश्किल हो जाता है। यह बारीकियां, बग़ैर कड़वाहटों के समझना ताकि रिश्ता बरक़रार रहे और काम सीख पाएं, बच्चों को समझनी होती हैं। लेकिन इस अनौपचारिक रिश्ते में मोल-तोल करके वह अपने हालात, समय और सुविधा के हिसाब से काम चला लेते हैं। जैसे कारख़ाने या दुकान पर पहुंचने का कोई मुक़र्रर वक़्त नहीं होता है। दूसरी तरफ़ स्कूल में कम ही टीचर ऐसे हैं जिनके बच्चों के साथ गहरे संबंध हैं और वह बच्चों के घर के हालात और तकलीफ़ों से वाकिफ़ हैं। ज़्यादातर कक्षा में पढ़ाने-सिखाने का बस एक नीरस फ़र्ज निभाते हैं। एक तरफ़ उस्ताद और शागिर्द के बीच के रिश्ते गांव के जजमानी रिश्तों की तरह, अनौपचारिक और व्यक्तिगत होते हैं। दूसरी तरफ़, टीचर और बच्चों के बीच औपचारिक अव्यक्तिगत ताल्लुक़ात होते हैं, बावजूद इसके कि इनका रोज़ ही का ''आपसी रिश्ता'' होता है। इसलिए इन बच्चों को स्कूल अनुशासन के नाम पर औपचारिकता और मुक़र्रर वक़्त, दस्तूर का एक अलग सफ़र तय करना पड़ता है।

उस्ताद-शादिर्ग का रिश्ता ही नहीं, बल्कि कारख़ाने और बाज़ार में काम, रिश्ते और संस्कृति अनौपचारिक व्यक्तिगत ताल्लुक़ात पर निर्भर है। किस वक़्त से किस वक़्त तक काम होगा उसका कोई तयशुदा वक़्त नहीं है। ज़रूरत और बाज़ार की मांग के हिसाब से काम होना होता है। अब चाहे सारी रात ही क्यों न हो। सोने-जागने, खाने-पीने का कोई वक़्त और हिसाब-किताब नहीं है। आमदनी भी बाज़ार पर मुनहस्सिर है, कम-ज़्यादा, होना-न होना सब बाज़ार के गर्म-ठण्डा होने पर निर्भर होता है। ऐसे में अच्छे आपसी ताल्लुक़ात होना - वह चाहे मज़दूरों से हों या ठेकेदार और मालिकों से हों, काम आता है। अनिश्चित हालात में रहना, मोल-तोल और समझौते तो बाज़ार सिखा ही देता है। घरों की दिनचर्या भी बाज़ार से जुड़ी होती है। मोहल्ले के बाज़ार भी देर रात तक खुले मिलते हैं। रात बारह-एक बजे अगर निकल जाओ तो महसूस होता है कि शाम के 6-7 बजे हैं। खाने-पीने के होटल, चाय के ढाबे में ख़ूब रौनक़ रहती है। लोग सड़क पर बैठे गप-शप करते नज़र आते हैं। कारीगर और मालिक सब मिलकर चाय पीते हैं, मज़ाक करते हैं गाली-गलौज दस्तूर है। इन्हीं सबके बीच एक-दूसरे से काम निकालना, जुगाड़ करना बाज़ार का एक हिस्सा है। जैसे एक बच्चे ने बताया कि रज़ाई में लेटे-लेटे उसने फ़ोन पर झूठ कहा, ''बस, आप ही का काम मशीन पर लगा है, शाम तक माल पहुंच जाएगा'', पिता ने शाबाशी दी कि ''तुमने ग्राहक को सम्भाल लिया''। जुगाड़ के जाल में पुलिस और मुक़ामी छोटे-मोटे नेता भी शामिल होते हैं। अब अगर इन भारी मशीनों के लिए बिजली ख़रीदी जाएगी तो दिवाला ही निकल जाएगा। बिजली की चोरी क्योंकि आम है तो पुलिस को खिलाना-पिलाना, नेता को ख़ुश रखना भी ज़रूरी हो जाता है। यह खूब पता है कि ''लोकतंत्र'' में वोट ख़रीदे जाएंगे हर तरह का लेन-देन चलता है। इसी का नतीजा है कि मुक़ामी काउंसिलर इस गहरी मुसलमान आबादी के इलाक़े

से भारतीय जनता पार्टी के हैं। क्योंकि स्कूल के बच्चों की ज़िन्दगी बाज़ार से जुड़ी है और बाज़ार की कुछ शाखें राजनीति से, इसलिए बच्चों को मुक़ामी राजनीति का खूब अन्दाज़ा रहता है। स्कूल और पाठ्यक्रम की शदीद गुर्बत है कि बच्चों की सामाजिक, राजनैतिक समझ का इस्तेमाल उनकी स्कूली ज़िन्दगी और किताबों में नहीं झलकता।

मज़दूर बच्चों की, बाज़ार से जुड़े अनिश्चित हालात, अनौपचारिक ताल्लुक़ात, ''बेवक़्त'' काम, ''बेतरतीब'' ज़िन्दगी से स्कूल का अनुशासन और तय-शुदा कैलेण्डर, टाइम-टेबल बहुत कुछ अपेक्षा करता है।

रिश्तेदारियां-रवादारियां, मदद, इख़्तलाफ़

यहां पर यह कहना ज़रूरी है कि नीचे दी गई तफ़सील हर घर की कहानी नहीं है, लेकिन यह एक ख़ास सोच और ज़हनियत को उजागर जरूर करती है जो कि सांस्कृतिक उसूलों से जुड़ी हुई है।

स्कूल में लड़कियां कम ही हैं, लेकिन जो हैं वे ज़्यादातर बहुत मेहनती हैं। कुछ लड़कियों के घर वाले तो उन्हें माली तकलीफ़ें उठाने के बावजूद स्कूल भेजते हैं। ऐसी भी बच्चियां हैं जिनकी मां और रिश्तेदार महिलाएं बिहार में हैं और वे अपने पिता और भाई के साथ दिल्ली में तालीम की ख़ातिर रहती हैं। जहां तालीम के लिए एक तरफ़ यह ललक नज़र आती है वहीं यह भी सच है कि अक्सर लड़कियों की शादियां जल्दी या कम उम्र में कर दी जाती हैं। रहीम बारहवीं जमात में पढ़ते हैं, उनके बहन-भाई ने भी हमारे स्कूल से पढ़ाई की है। बहनें पढ़ाई में अच्छी थीं। एक की शादी बारहवीं के बाद हो गई और दूसरी की दसवीं के बाद। उनकी मां के मुताबिक़, ''हां, अच्छा पढ़ रही थी, दोनों फूफियों ने ले ली, अब दोनों अपने घर की हैं'' (दोनों बहनों की शादी फूफियों के घर हुई है) रहीम के भाई अरहम की भी बारहवीं के बाद शादी कर दी गई जबकि अभी गौना नहीं हुआ है। उनकी मां ने बताया, ''भाई ने मांग लिया, कहा तू मेरी बेटी ले ले, अब भाई को कैसे मना करती। इसके अब्बू ने कहा भी, अभी पढ़ने दो। मैंने कहा मेरे भाई को शुगर है, मुझे अपना भाई चाहिए। बेटा तो अपनी क़िसमत से कर लेगा, लेकिन भाई को कुछ हो गया तो!'' अरहम मियां अब कॉलेज तो पहुंच गए हैं जो हमारे यहां के बहुत कम बच्चे पहुंच पाते हैं। लेकिन अब उनकी कोशिश है कि कोई छोटी-बड़ी नौकरी मिल जाए तो गौना करवा के अपनी दुल्हन को घर ले आएं। उनकी मां यह कहती ज़रूर हैं कि, ''आधी खा लूंगी, बच्चे को पढ़ाऊंगी'', लेकिन कुछ रिश्तेदारियों को समझने-निभाने का नज़रिया ऐसा है कि बच्चों की तालीम के आड़े ही आता है। ऊपर दी गई बातचीत में ग़ौर-तलब अलफ़ाज हैं, बेटी का ''मांग लेना'' या ''ले लेना''। इनसे साफ़ ज़ाहिर होता है कि बेटियां खुद-मुख़्तार नहीं हैं। उन्हें कब मांग लिया जाए या ले लिया जाए, उनकी ज़िन्दगी और पढ़ाई-लिखाई तो इस पर मुनहस्सिर या निर्भर है। लड़कों की इस मामले में कुछ हद तक मर्ज़ी चलती है, लेकिन एक हद तक ही जब तक घर के मुखिया या बाप-दादा में उनकी शादी के अरमान न जाग जाएं।

शादियों के अलावा भी ख़ानदान में रिश्ते निभाना, पढ़ाई लिखाई के लिए अच्छा ख़ासा मंहगा पड़ता है। जैसे, एक बच्चे के नाना का इन्तक़ाल हुआ तो वालिद उन्हें पूरे कुनबे सहित बुलन्दशहर उनके ननिहाल छोड़ आए। वापसी 20-25 दिन बाद हुई। रजिस्टर से नाम काटा गया, दुबारा लिखा गया, लेकिन जो पढ़ाई का नुक़सान हुआ सो अलग। इसी तरह सभी रिश्तों की अपनी अहमियत और ज़रूरत है। सातवीं जमात के रहमत को अपनी मां के साथ बहन की सुसराल जाना पड़ा जो कि दिल्ली के बाहर है। बहन की सास का अचानक इन्तेक़ाल हो गया था। वहां भी दस-बारह दिन लग गए। रिश्तेदारियां निभाना दस्तूर तो है ही वहीं कारोबारी रिश्ते भी आपस में उलझे हुए हैं। कहीं कारोबार साले साहब का है और पैसा बहनोई का लगा हुआ है। कहीं भाई का काम है, उन्हीं के यहां रिश्ते के भाई काम करते हैं और आपस में दोनों समधी भी हैं।

यह भी होता है कि रिवायत और दस्तूर को मज़हब का जामा पहना दिया जाए। साथ में त्यौहार मनाना, ग़म और ख़ुशी में शामिल होना सभी में वक़्त दरकार है। कुछ बच्चे जिनका गांव और ख़ानदान दिल्ली से 50-100 किलोमीटर की दूरी पर है, वह अक्सर त्यौहार पर या और मौक़ों पर गांव चले जाते हैं। जैसे मौहर्रम पर, जो शिया बच्चे हैं वे शिकारपुर (उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर के पास एक जगह है) चले जाते हैं। आराम से 10-12 दिन में मातम-मजलिस करके लौटते हैं।

जहां एक तरफ़ रिश्तेदारियां और दस्तूर निभाए जाते हैं वहीं दूसरी तरफ़ परिवारों में आपसी इख़्तलाफ़ और तकरार के तकलीफ़देह रूप देखने को मिलते हैं। यह चंद परिवारों की कहानी सही, लेकिन बताती है कि किस तरह आर्थिक तंगी, सामाजिक-सांस्कृतिक नियम-दस्तूर आपस में मिलकर परेशानियों का जाल बुनते हैं और पढ़ाई की तरफ़ बढ़ते क़दमों की बेड़ियां बनते हैं।

यह तो मैंने देखा है और कुछ कक्षाओं के आंकड़े इकट्ठे करने पर अन्दाज़ा हुआ कि इलाक़े में बीमारियां काफ़ी हैं। परिवारों में मां या पिता की उम्र से पहले बीमारी और मौत की ख़बरें आम हैं। जिस तरह के कारोबार हैं या रहने और काम करने के हालात हैं उनमें यह तकलीफ़ें कुछ हैरान करने वाली नहीं हैं। अंधेरी गलियों में अंदर जाकर एक कमरे का घर, जिसमें दिन के वक़्त भी बिजली के बग़ैर देखना मुश्किल हो। वहीं 7-8 लोगों का रहना-सहना, वहीं काम का फैलावा, वहीं पकाना-खाना और कई ऐसे घरों का एक पख़ाना। एक अफ़रातफ़री के आलम में ज़िन्दगी चलती रहती है।

कुछ घर ऐसे भी हैं जो छोटे ज़रूर हैं, लेकिन साफ़-सुथरे हैं और वह सिर्फ़ रहने की जगह हैं - कारख़ाना नहीं हैं। कुछ लोगों के अपने घर हैं - बल्कि यह कहा जा सकता है कि अब इनके हो गए हैं। कभी जब सन् 1947 के बंटवारे के शरणार्थी इलाक़े में आए थे तब उन्हें आरज़ी तौर पर दिए गए थे। उनमें से काफ़ी लोग सस्ते में बेच-बाचकर दूसरे इलाक़ों में चले गए। जो परिवार इलाक़े में ज़्यादा अरसे से रह रहे हैं उन्होंने खरीद लिए। अब यहां नीचे कारख़ाने और ऊपर की मंज़िलों पर कारख़ाने और घर दोनों देखने को मिलते हैं। लेकिन घरों पर आज भी नम्बर के आगे T (Temporary) या आरज़ी लिखा हुआ दिखता है। 30-40 गज़ के साफ़-सुथरे यह घर लोगों की हुनर-मंदी के सुबूत हैं। जैसे एक घर में एक छोटा-सा दालान था जिसमें बावरचीख़ाना, गुसलख़ाना वग़ैरा बने थे। एक लम्बा-सा कमरा था, जिसमें एक तरफ़ एक ऊंचा-सा तख़्त पड़ा था। तख़्त के नीचे पर्दे के पीछे सामान रखा था। तख़्त के ऊपर दुछत्ती पर भी परदे के पीछे सामान रखा था। इस तख़्त के आगे एक खूबसूरत-सा पर्दा था जो दिन के इस वक्त एक तरफ खिंचा था। कोने में दीवार पर एक छोटा-सा पंखा था। कमरे के ताख़ पर बर्तन और सामान सजा था। एक तरफ़ टीवी रखा था और ज़मीन पर, जहां बच्चे, बूढ़े रात में बिस्तर बिछाकर सोते होंगे, मोटा प्लास्टिक बिछा था। यह साफ़-सुथरा सा घर जहां दालान में धूप छिटकी थी, उस इलाक़े में एक नेमत-सा लग रहा था।

जैसा कि मैं कह चुकी हूं इलाक़े में कम उम्र में बीमारी और मौत की ख़बरें आम हैं। इसका असर रिश्तेदारियों और उनके निभाने पर तो पड़ता ही है। ऐसी महिलाएं हैं जो पति की मौत के बाद जैसे-तैसे छोटा-मोटा काम जैसे सितारे लगाकर या कपड़े सींकर गुज़र-बसर करती हैं। ''बच्चे'' जल्दी ''बड़े'' हो जाते हैं और ज़िम्मेदारी सम्भालते हैं। ऐसे भी परिवार हैं जहां मां की मौत हो गई है और बच्चे किसी रिश्तेदार के रहमोकरम पर हैं। एक ऐसे ही परिवार में तीन बच्चे हैं, जिसमें से दो हमारे प्राइमरी स्कूल में पढ़ते हैं। मां की मौत के बाद दादी की देखभाल में थे। दादी ने बेटे की दूसरी शादी करवा दी कि बच्चों को मां मिल जाएगी। अब बेचारी ''मां'' जिसकी पहली शादी थी उसके अपने अरमान थे। शादी से पहले उसे बताया भी नहीं गया कि शादी का मतलब अपने से कुछ ही छोटे, तीन बच्चों की ज़िम्मेदारी होगी। उसने बच्चों की देखभाल से इंकार कर दिया। अब सास-साहिबा इस फ़िराक़ में हैं कि किसी तरह मेहर के तीस हज़ार रुपये जमा हों तो बहू को

तलाक़ दिलवाएं। क्या करें, खाने वाले बढ़ जाएं और काम भी न निकले। ऊपर से नाफ़रमान महिला को बरदाश्त करना!

काफ़ी परिवार ऐसे भी हैं, जहां पिता की बीमारी की वजह से या बाज़ार के उतार-चढ़ाव के कारण काम कुछ ज़्यादा ही मंदा चल रहा है। ऐसे में बच्चों और महिलाओं को भी आर्थिक ज़िम्मेदारी निभानी पड़ती है। ज़िम्मेदारी बांटने पर जब महिला और बच्चे घर के फ़ैसलों में हिस्सेदारी चाहते हैं तो ''मर्दानगी'' पर आघात महसूस होता है। लड़ाइयां, टूटते परिवार, परेशानियां आम हैं, कई बार घर के हालात इतने बिगड़ जाते हैं कि ऐसा परिवार छोड़कर एक अलग दुनिया बसाने की कोशिश होती है। यहां यह कहना ज़रूरी है कि इन तस्वीरों को दिखाने का मक़सद यह कह देना नहीं है कि पारिवारिक इख़्तलाफ इन मज़दूरों की ज़िन्दगी का सच है औरों का नहीं। इख़्तलाफ परेशानियां हर तरफ़ हैं, बस उनके रूप और वजह फर्क़ हो सकती है।

काम-कारीगरी, तंगी-दुशवारी, बाज़ार का उतार-चढ़ाव, बीमारी-आज़ारी इसके साथ मिले रिश्ते-नाते, सामाजिक-सांस्कृतिक नियम-दस्तूर, रहने-सहने के हालात सब मिल-जुलकर पढ़ने-लिखने के लिए वक़्त निकालने के ख़िलाफ़ ही साज़िश रचते हैं।

ऊपर दी गई तस्वीरों से साफ़ ज़ाहिर होता है कि कैसे सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक ढांचे बच्चों को तालीमी मैदान में पीछे धकेलने के लिए ज़िम्मेदार हैं। जहां शिक्षा एक बाज़ारू शै बनकर रह गई है वहां न तो इन बच्चों के पास पूंजी है, न वक़्त और न घर के हालात कि ये तालीम हासिल करने में कामयाब हों, और अपने ख़्वाबों को साकार कर सकें।

अगली क़िस्त में स्कूल में झांककर देखेंगे कि किस तरह से अस्तादज़ा या टीचर इन बच्चों को आंकते हैं और इनका चित्रण करते हैं जो कई मायनों में जायज़ वर्णन नहीं है। यह भी देखने की कोशिश होगी कि किस तरह बच्चों का एक बड़ा समूह ''जस्ट किड्डिन्ग'' - यह उन्हीं की शब्दावली है- के नाम पर टीचर्स की सत्ता को ललकारता है और मज़े लेता है। लेकिन क्या यह ''फ़न'' भी इनकी तालीम के ख़िलाफ़ ही जाता है। इसके अलावा बच्चों के एक ख़ास समूह का जायज़ा लेंगे जो कि स्कूल में मज़हबी तालीम की स्वैच्छिक कोशिश में है। क्या मज़हब भी इनकी रफ़्तार को कम करता है? ◆